THE ECONOMIC TIMES

Date: 10-08-17

Influential men need to step up beside women to help promote gender equality

By Elizabeth Broderick,*The writer is global co-chair, Women's Empowerment Principles (UN Global Compact)*

Gender diversity is attracting increasing attention from India Inc. Companies are competing for industry diversity awards, increasing their parental leave provisions and setting gender equality targets for recruitment to attract and retain female workers.This attention is well deserved. The economic and business case for gender equality in the world of work is clear. Evidence shows that more women on boards and in senior management is associated with better performance, including higher financial returns and stronger innovation outcomes. Increasing India's low rate of women participation in formal paid work would also drive GDP growth upwards.

Australia, like India, is reaching gender parity in educational attainment, and in some cases girls are overtaking boys. But we are not seeing this translate into equal outcomes in the workplace in either of our countries.There are three points in the talent pipeline where women are affected disproportionately. They fail to enter, are stuck in the middle or locked out of the top. Just as in India, Australian women remain under-represented in leadership positions and are much more likely to be in insecure jobs in low-paid industries.

The slow pace of change means that equality remains a distant goal. The World Economic Forum estimates that at the current rate of incremental change, it will take decades to reach parity in all economic participation. Accelerating the pace of change, in all countries, will require innovative and disruptive solutions.For too long the responsibility for making progress on gender equality has sat exclusively on the shoulders of women. Yet, the reality is that in most countries men largely occupy the seats of power and, therefore, are a critical part of the solution. We need influential men to step up beside women so that promoting gender equality and women leadership becomes everyone's business.

In 2010, I started the Male Champions of Change initiative. The importance of leadership from the top in achieving organisational change is well established. We formed a group of powerful male leaders from the private and public sectors to take practical action and to be accountable for making progress on gender equality in their own companies and beyond.These leaders commit publicly to real, disruptive action to change the status quo. They challenge each other to be accountable for their commitments. They take a listening, learning and 'leading through action' approach.

This means that they listen within their organisations and partner with leading women's organisations to ensure they are deepening their understanding of gender equality issues. They experiment, learn, set targets and measure progress.Today, the Male Champions of Change are a group of 160 men, including the heads of iconic Australian companies such as Telstra, Rio Tinto, Commonwealth Bank and Qantas, and of major sporting leagues, the army and federal police. Together these organisations employ around 600,000 people, or 5% of Australia's workforce.The UN has highlighted the initiative as worth global scaling, and Japan's Prime Minister Shinzo Abe led the establishment of a similar group in 2014, now numbering over 100 Japanese CEOs and companies.Big businesses in India, especially in sectors such as

IT and finance, are increasingly displaying leadership in addressing gender inequality. I look forward to hearing about innovative solutions such as women-only factory floors, opening supply chains to women micro-entrepreneurs and customising leadership development programmes.Gender equality and women's representation in leadership are not women's issues to be addressed by women alone. They are key economic and societal issues. We all benefit from a more gender equal world.

Date: 10-08-17

India's gender chasm retards the economy

ET Editorials

Women hold up half the sky. This is not a moral or social argument — it is essentially an economic fact. But women are largely absent from India's workforce. With a gender gap of 52.1%, the International Labour Organization has ranked India 121st among 131 countries on the basis of female labour force participation. Multiple reports and studies point to the positive impact that increased participation of women in the labour force would have on the economy. If India could close the wide gender gap in employment by 2025, the economy could gain by as much as $1 trillion. Women are central to making growth more inclusive, to reducing income inequality, thereby making growth more sustainable. Women can be game changers.

To actualise this potential, the focus must be on empowering women in general, education, easing entry into the workforce and providing support to balance work and family. While schooling is a fundamental right for all, more must be done to reduce the dropout rate among girls and help them complete full 12 years of schooling. Improved access to schools, and better sanitation are essential to achieve this goal. Labour markets should be more flexible — easing the move from the informal to the formal sector. Financial inclusion and improved access to credit will allow women to pursue economic opportunities.The gendered privileging of women in raising families must give way to participative effort by both parents, who should both be eligible for childcare leave. Government, policymakers and workplaces must work together to provide affordable and high quality childcare. The government's "beti bachao, beti padhao" campaign must move beyond slogans to empowerment in practice. Popular culture must change, not just state policy.

दैनिक भास्कर

Date: 10-08-17

अंतरराष्ट्रीय समझौतों की बलि चढ़ती हमारी खेती

देविंदर शर्मा, (ये लेखक के अपने विचार हैं)

कुछ साल पहले एक लेखक ने मुझसे वर्ल्ड डिजास्टर रिपोर्ट का हवाला देते हुए पूछा कि क्या जलवायु परिवर्तन से होने वाला नुकसान भविष्य में किसान के सामने सबसे बड़ी चुनौती होगा। मैंने कहा कि मुझे ऐसा नहीं लगता, क्योंकि इससे बड़ी आपदा आने वाली है। किसान जानते हैं कि कब सूखा आने वाला है, वे जानते हैं जब गरमी का दौर लंबा खिंच जाए तो कौन से कदम उठाने हैं। वे कीटों के हमलों का सामना करने के लिए तैयार होते हैं।उन्हें पता है कि भारी वर्षा के दौरान फसल का नुकसान कैसे कम किया जाए। लेकिन, कल्पना कीजिए किसान को तब कितना आघात लगता होगा, जब उसे पता लगे कि बम्पर फसल के बाद कीमतें बुरी तरह गिर गई हैं। यह वही है जिसे मैं 'प्रोड्यूस एंड पैरिश' यानी पैदा करो और नष्ट हो जाओ कहता हूं। किसान रिकॉर्ड फसल लेता है सिर्फ पहले से देखी गई आपदा झेलने के लिए।लगातार दो साल सूखे के बाद वर्षा के देवता आखिर मुस्कुराए। सामान्य कृषि मौसम की उम्मीद से किसानों ने पिछले दो मौसम के नुकसान की कसर निकालने के लिए खूब मेहनत की। उन्होंने सोचा कि अच्छी फसल उनके लिए अच्छी कीमतें लाएगी लेकिन, बाजार अचानक ध्वस्त हो गया। दालें, टमाटर, आलू, प्याज, सरसों और अन्य सब्जियों की कीमतें बुरी तरह गिर गईं, जिससे किसान अपनी उपज फेंकने पर मजबूर हो गए। किसान का गुस्सा विशाल विरोध प्रदर्शन में फुट पड़ा, जिसकी शुरुआत महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश से हुई।

खेती के मोर्चे पर और भी संकट पैदा हो रहे हैं। ऐसे समय जब किसान संगठन कर्ज माफी और लागत पर 50 फीसदी मुनाफा देने की स्वामीनाथन समिति की सिफारिशें लागू करने की मांग के लिए 9 से 15 अगस्त तक जेल भरो आंदोलन की योजना बना रहे हैं। उन्हें पता नहीं है कि फिलहाल चल रही अंतरराष्ट्रीय व्यापार समझौता वार्ताएं भारतीय कृषि के लिए अधिक बड़ा खतरा है। 1995 के बाद जब से विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ) वजूद में आया, विकासशील देशों को व्यापार संबंधी सारी पाबंदियां और आयात शुल्क हटाने पर मजबूर करने के प्रयास हैं। शुरू में डब्ल्यूटीओ के जरिये दो देशों या देशों के समूहों को द्विपक्षीय या बहुपक्षीय मुक्त व्यापार संधि (एफटीए) करने के लिए आक्रामक तरीके से दवाब डाला गया।तिरुवनंतपुरम स्थित स्वैच्छिक संगठन 'थानाल' के श्रीधर राधाकृष्णन बताते हैं कि आसियान ट्रेडिंग ब्लॉक के साथ एफटीए ने केरल में बागानदारों की आजीविका पर प्रहार किया है। वे कहते हैं- 'सात साल पहले हमने केरल सरकार ने पूर्वानुमान लगाया था कि आयात शुल्क में कमी का केरल पर गंभीर प्रभाव पड़ेगा खासतौर पर रबर मसालों के उत्पादकों पर।' वे बताते हैं कि पूर्वानुमान के मुताबिक बढ़ते आयात के साथ कीमतें गिर गई हैं। इस बातों पर ध्यान देकर समझौते पर हस्ताक्षर करने वाली केंद्र सरकार ने उन किसानों को मुआवजा या मदद के लिए कुछ नहीं किया, जिनकी जिंदगी-आजीविका पर गहरा असर हुआ। केरल सरकार पर यह बोझ डाल दिया गया कि वह हर साल कीमतें गिरने से रबर के किसानों को होने वाले 5 अरब रुपए के नुकसान की भरपाई करे।

इतना ही नहीं, क्षेत्रीय व्यापक आर्थिक भागीदारी (आरसीईपी) संधि के तहत 92 फीसदी व्यापारिक वस्तुओं पर से आयात शुल्क हटाने पर विचार हो रहा है। जुलाई में हैदराबाद में इन वार्ताओं का ताजा दौर हुआ है। इससे भी बुरी बात यह है कि जो ड्यूटी जीरो हो जाएगी उसे बाद में बढ़ाया नहीं जा सकेगा। यह ऐसा प्रावधान है, जो डब्ल्यूटीओ में भी नहीं है। दूसरे शब्दों में यदि भारत आरसीईपी संधि पर हस्ताक्षर करने पर सहमत होता है तो इससे भारतीय बाजार आने वाले समय के लिए बिना किसी आयात शुल्क के साथ खुल जाएगा। इससे 60 करोड़ किसानों की आजीविका की सुरक्षा सुनिश्चित करने का भारत का अधिकार छिन जाएगा। इस संधि पर दक्षिण कोरिया, जापान, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और चीन सहित 16 देश बातचीत कर रहे हैं। हर बार भारत जब व्यापार समझौतों में बातचीत करता है तो यह अपने पेशेवरों के लिए सीमा पार आवाजाही में आसान नियमों की मांग करता है। निश्चित ही यह महत्वपूर्ण है पर मुझे समझ नहीं आता कि क्यों खेती को इस प्रक्रिया में बलि चढ़ाया जा रहा है, क्योंकि 60 करोड़ किसानों को आजीविका देने वाली घरेलू खेती को अंतरराष्ट्रीय व्यापार की बलिवेदी पर तो नहीं रखा जा सकता। डेयरी सेक्टर का मामला लीजिए। अमूल डेयरी कोऑपरेटिव के सीनियर

जनरल मैनेजर जयन मेहता बताते हैं कि आरसीईपी वार्ताओं से डेयरी फार्मिंग में 15 करोड़ आजीविकाएं बुरी तरह प्रभावित होंगी।भारत दुनिया में सबसे बड़ा दूध उत्पादक है। दूध और दूध के उत्पादों का आयात 40 से 60 फीसदी आयात शुल्क पर आयात करने की अनुमति है। इससे स्थानीय डेयरी उद्योग को पर्याप्त संरक्षण मिल जाता है ताकि वे बाजार में टिकने लायक स्पर्धा कर सके। यदि सारे द्वार खोल दिए जाए तो भारत में ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड से आने वाले सस्ते दूध की बाढ़ जाएगी। यह भूले कि सिर्फ 6,300 डेयरी फार्मर वाला ऑस्ट्रेलिया और 12,000 डेयरी फार्मर वाला न्यूजीलैंड अपने छोटे डेयरी समुदाय का संरक्षण आक्रामक ढंग से रख रहे हैं। वहीं भारत 15 करोड़ किसानों की आजीविका नष्ट करने पर तुला हुआ है।भारत को हर तरह के फल, सब्जियों, फलियों, आलू, मसाले, बागानों की फसलों, बीज, रेशम, प्रसंस्करित खाद्य आदि के लिए बाजार खोलना पड़ेगा। हालांकि, भारत अब भी सिर्फ 80 फीसदी व्यापारिक वस्तुओं पर शून्य शुल्क पर जोर दे रहा है लेकिन, वार्ता पर चीन, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, जापान और दक्षिण कोरिया का आक्रामक रवैया हावी है। दुनिया को यह समझने में बरसों लग गए कि डब्ल्यूटीओ सिर्फ शीर्ष 1 फीसदी के वाणिज्यिक हितों की पूर्ति के लिए बनाया गया था। इससे सबक लेकर आरसीईपी संधि के लिए वार्ताएं पूरी गोपनीयता में हो रही हैं। वार्ता के हैदराबाद दौर में क्या आदान-प्रदान हुआ, इसे सार्वजनिक नहीं किया गया है। अत्यधिक सुरक्षा गोपनीयता में चल रही वार्ता में चंद लोग फैसले लेते हैं, जो आखिरकार 99 फीसदी आबादी के भविष्य पर असर डालते हैं। यह बहुत ही अन्यायपूर्ण है।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 10-08-17

शिक्षा की स्थिति

संपादकीय

केंद्रीय मंत्रिमंडल ने शिक्षा का अधिकार अधिनियम के अधीन 'नो डिटेन्शन' नीति (अनुत्तीर्ण न करने की नीति) में संशोधन का निर्णय लिया है। यह देश में स्कूल छोडऩे वाले बच्चों की शिक्षा के निराशाजनक हालात में सुधार की दिशा में छोटा लेकिन अहम कदम है। सच तो यह है कि 24 राज्यों में संसदीय संशोधन की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा की जा रही है ताकि अकादमिक वर्ष 2018 से स्कूली विद्यार्थियों की आकलन के आधार पर प्रोन्नति की जा सके। इससे यही संकेत मिलता है कि केंद्र सरकार इस हकीकत को समझ रही है कि 20 फीसदी से अधिक बच्चे कक्षा 9 में स्कूल छोड़ देते हैं और यह कहीं न कहीं व्यवस्था की गड़बड़ी है। मौजूदा कानून के तहत बच्चों को स्कूल में बने रहने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। कक्षा 8 तक उनको स्वत: आगे बढऩे दिया जाता है। इस प्रावधान के आने के बाद जो कानून बनेगा उसके तहत राज्यों को यह अनुमति होगी कि वे कक्षा 5 और कक्षा 8 के बाद वर्षांत में छात्रों का आकलन कर सकें। ये वे वर्ष हैं जब बच्चे माध्यमिक शिक्षा लेते हैं। अगर बच्चे उस आकलन में अनुत्तीर्ण होते हैं तो राज्य के पास अधिकार होगा कि वह चाहे तो दो माह बाद बच्चों की दोबारा परीक्षा ले। जो बच्चे दो बार अनुत्तीर्ण हो जाएं उनको आगे रोका जा सकता है। अगर ऐसा होता है तो कम से कम यह संभावना बनेगी कि राज्य प्रशासन स्कूलों और शिक्षकों पर दबाव बनाए कि वे अकादमिक रूप से पिछड़े बच्चों को बेहतर तैयारी कराएं। बहरहाल, यह तभी कारगर होगा जबकि शिक्षण मानकों में भी बेहतरी लाई जाए। एक के बाद एक वेतन आयोग के आगमन और वेतन भत्तों में बेहतरी के बावजूद शिक्षण के मानक कमजोर बने हुए हैं। इस कमजोरी की वजह से हमारा देश बहुचर्चित जननांकीय लाभांश का लाभ नहीं उठा पा रहा है। जबकि नीति निर्माता भविष्य को लेकर जब भी कोई बात करते हैं तो उसमें जननांकीय लाभांश का उल्लेख शामिल रहता है। इसमें दो राय नहीं कि देश के अधिकांश बच्चों को शिक्षण के लिए पर्याप्त सामग्री नहीं मिल पाती। ऐसे में साल के अंत में होने वाली परीक्षा में बड़ी तादाद में बच्चे अनुत्तीर्ण भी हो सकते हैं। अगर ऐसा हुआ तो अधिनियम का उद्देश्य विफल रहेगा। प्रथम एजुकेशन फाउंडेशन की 2016 की सालाना शिक्षा संबंधी रिपोर्ट बहुत निराशाजनक तस्वीर पेश करती है। स्कूलों में नामांकन सुधरने के बावजूद शौचालय, पक्के भवन और अन्य सुविधाओं के मामले में, लैंगिक अंतर, गणित और पढऩे के कौशल, देश के ग्रामीण इलाकों में शिक्षा के स्तर आदि के मामले में हम पीछे हैं। रिपोर्ट में कहा गया है कि कक्षा 5 के बच्चों में पढऩे का स्तर वर्ष 2011 और 2016 के बीच जस का तस रहा। कक्षा 8 के छात्रों के लिए इस मानक में इस

अवधि में कमी आई। सामान्य गणितीय कौशल में कक्षा 5 के बच्चे बहुत खराब स्थिति में हैं जबकि हमारा देश सूचना प्रौद्योगिकी जगत की ताकत होने का दम भरता है। बमुश्किल एक चौथाई बच्चे सामान्य गुणा-भाग कर सके। कक्षा 8 के बच्चों में यह अनुपात बेहद खराब हुआ। सन 2010 में जहां 68.4 फीसदी बच्चे ऐसा कर पाते थे वहीं 2016 में यह तादाद 43.3 फीसदी रह गई। समस्या इस वजह से भी है क्योंकि शिक्षण को अभी भी दूसरे दर्जे का काम माना जाता है। यानी लोग जब कोई काम करने में नाकाम रहते हैं तो वे शिक्षक बन जाते हैं। सरकारी विद्यालयों में शिक्षकों की नियुक्ति में जो भ्रष्टाचार है वह भी सरकारी शिक्षा के संकट का अहम बिंदु है। इन मुद्दों से शीघ्र निपटने की आवश्यकता है ताकि हम ऐसा देश न बन जाएं जहां उच्च प्रतिस्पर्धा वाले विश्व में अशिक्षित बच्चे बाहर निकलें।

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 09-08-17

Hate and speech

Arrest of ex-Kerala DGP is a misuse of hate speech provisions, reeks of state arbitrariness

Editorial

The arrest of a former DG of Kerala police last week on charges of promoting communal enmity is a case of gross misuse of the law. The state police had booked T.P. Senkumar under Section 153(A) of the IPC, a legal provision against hate speech, for remarks he made in an interview to a Malayalam magazine in July, soon after he retired from service. In the interview, Senkumar presented what appeared to be a prejudiced view of the state's Muslim community. He claimed that population growth in the state was skewed in favour of Muslims and that a section in the community promoted religious conversion through "love jihad". Coming from an individual who had led the police force in the state, his views, predictably, stoked a controversy.

Senkumar's views are undoubtedly controversial, even bigoted. That a person who lacks a nuanced understanding of religion, sensitivity to communal concerns and the complexity of social relations headed the state police is indeed a cause for concern. However, to book him under hate speech provisions is uncalled for. It could be said that Senkumar's narrow-minded notions of Muslims and Islamist politics in Kerala have a wider resonance in a climate that emboldens majoritarian assertions and encourages intolerance. Yet, such views cannot be banished by wielding hate speech laws. They call for greater political engagement and debate. Skewed ideas about communities will have be confronted with arguments and facts. It is undemocratic to demand the curtailment of the right to freedom of expression by raising the spectre of communal disharmony.In Senkumar's case, the police action appears doubly dubious since the former DGP has a fraught relationship with the ruling regime. The Left government had removed him from the DGP's post after it won the election last year. Senkumar moved the court and was reinstated as DGP on the orders of the Supreme Court ahead of his retirement. Now the criminal case against him rests on slippery ground also because he was booked a month after his remarks appeared in the public domain. Senkumar's remarks need to be challenged in the public sphere, not through criminal action.

Date: 09-08-17

The case for lateral entry

There should be a system of annual recruitment into the IAS of mid-career professionals from diverse sectors

Subbarao, former RBI governor, is a retired IAS officer. Natarajan is a serving IAS officer. Views are personal

Few issues in civil service reform arouse more passion and acrimony than lateral entry into the Indian Administrative Service (IAS). It is talked about, off and on, both within the government and outside, but has not been acted upon. We believe it is an idea whose time has not only come, but one which is overdue. The case for lateral entry is strong.

First, the IAS has been designed for the pre-reform India of a dominant state. The logic of economic reforms that began in 1991 is for the state to yield space to the market; as we deepen reforms, it becomes even more imperative for the government to understand the impact of its policies on stakeholders — the private sector, the non-government sector and the larger public. The IAS officers, on the other hand, see the government only from within. Sure, there are efforts to reach out to the stakeholders, but is that an adequate substitute to having within the government itself, people who have "experienced" the government from the outside?Second, IAS officers get recruited at a very young age when it is difficult to test potential administrative and judgement capabilities. Indeed, experience has shown that the IAS examination is prone to both, what statisticians call type I and type II errors; some who are potentially good administrators fail to make it, and some who do make it, fall short of the requirements. Mid-career lateral entrants with proven capabilities will help bridge this deficiency.Third, career progression in the IAS is almost automatic. Notwithstanding sporadic efforts to introduce meritocracy, very few get weeded out for poor performance. The only penalty, if at all, for failing to make the grade, is fringe postings. Lateral entry is necessary to push the IAS out of their comfort zone and challenge them.

It is not as if lateral entry has not been tried out. It has, but only at the margins. Both the Central government and many state governments have appointed advisers and consultants on an ad-hoc basis, for fixed tenures or even on an open-ended basis. Indeed some of them, recruited into the Finance Ministry, the Reserve Bank, the erstwhile Planning Commission and more recently into public enterprises, have distinguished themselves. C. Rangarajan and Montek Singh Ahluwalia, just to name two, have been stellar successes. However, the larger experience from such lateral entry has not been happy. Lateral entrants have struggled to fit into "the system" and understand the processes and dynamics of government decision-making. They have complained of hostility from the IAS network which, they believe, sets them up for failure. "The system", a metaphor for the IAS, in turn, sees lateral entrants as adversaries who have made their way in, not through an open competitive examination like they have, but because of privilege and connections.What we propose, instead, is an institutionalised system of annual recruitment into the IAS of mid-career professionals from diverse career paths. They could be in the 43-46 years age group. And the qualifications should not be too prescriptive in order to privilege proven talent over paper qualifications. The Union Public Service Commission should design the examination to test analytical skills, maturity of judgement and personality traits. Lateral entrants too, like the regular recruits, should be allotted to state cadres, and their inter-se seniority should be determined in such a way that the interests of regular entrants and lateral entrants are balanced.A

distinguishing feature of the IAS, indeed one that is their claim to pre-eminence even among other civil services, is their field experience. This cutting-edge level exposure comes in very handy as IAS officers move up the ladder to policy-making at the highest levels. Some of the Delhi policy mandarins from outside the IAS have never seen a village school or a gram panchayat office. That is not just embarrassing; it is dysfunctional. The lateral entrants should, therefore, have mandatory "district immersion", serving at least five of their first 10 years in field postings. The hard grind of such field postings will make lateral entry self-selecting, drawing in only those with commitment and aptitude. This proposed institutionalised entry will turn the IAS cadre top-heavy. This can be mitigated by weeding out a quarter of the poorest performing regular entrants at the end of 15 years so that they yield space for lateral entrants. Admittedly, such weeding out has to be done based on transparent and contestable criteria so that the rules of the game are known before the play starts.

Lateral entry will bring in much-needed outside experience, buffer the talent within the administration and challenge the IAS into continuous self-improvement. Since the lateral entrants will come through an open competitive examination, they will be as much a part of "the system" as the regular entrants, giving no scope for the adversarial relationship seen with ad-hoc lateral entrants. Besides, the criticism that lateral entrants cherry-pick their jobs, enjoy a system of revolving doors, come to burnish their CVs, or in some cases even to promote private interests from within the government, will have no ground.Institutionalised lateral entry should be complemented with allowing regular IAS officers to specialise in sectors over time as well as encouraging them to work outside the government for limited periods. This will enable them to compete on an equal footing with lateral entrants.

We want to emphasise that we should not throw away the baby with the bathwater. There is a lot to be said for continuing to recruit young people into the IAS. They bring in youthful spirit, raw enthusiasm and unspoilt enterprise into administration. Many of the major programmes that have been mainstreamed across the country such as the mid-day meal, the employment guarantee scheme or even the right to information are the brainchild of sporadic experiments by these young IAS officers somewhere in the vast hinterland of the country.Yet, an institutionalised lateral entry into civil service will help the government have the best of both youth and experience and take the system closer to the goal of "minimum government, maximum governance".

THE HINDU

Date: 09-08-17

Food for action: on food security in India

EDITORIAL

The Supreme Court directive should lead to better access under the Food Security Act

The National Food Security Act, 2013, has met with prolonged political indifference, but there is some hope now since the Centre has been asked by the Supreme Court to ensure that States implement key

aspects of the progressive law. The directives in the Swaraj Abhiyan case underscore the depressing reality that several State governments have not met key requirements in the legislation which empower the common person in securing subsidised food. Sections 14, 15 and 16, which require the setting up of a grievance redress mechanism and a State Food Commission with responsibility to monitor the implementation of the law, have been heeded only in name, as in Haryana, or not at all. Union Food Minister Ram Vilas Paswan's claim last November that the Act covers the entire country is, therefore, not consistent with the facts. As the court has pointed out, Article 256, which casts a responsibility on the States and the Union to ensure compliance with laws made by Parliament, also provides the remedy, as it can be invoked by the Centre to set things right. Unfortunately, the NFSA, which is vital for social security through the Public Distribution System and child welfare schemes, has suffered due to a lack of political will.As a law with egalitarian goals, the NFSA should have set the floor for food security through the principle of universal access, though not every citizen would need it. There is great merit in providing highly subsidised foodgrains to targeted households chosen by the State governments, with a ceiling of 75% of the population in rural areas and 50% in urban areas. But the system should have in-built mechanisms to allow for the entry of new households that suddenly find themselves in financial distress, while others can exit it based on changed circumstances. Such arrangements can be made only when there is a full-fledged, independent machinery in the form of a Food Commission, and district-level grievance redress, besides social audits. All these are provided for under the Act, but have been ignored. Modernisation of the PDS, with the use of information technology, could incorporate such dynamic features to the supply of subsidised food to those who need it, and eliminate deficiencies and fraud. Now that the Ministry of Consumer Affairs, Food and Public Distribution has been given specific directives by the court to complete the unfinished tasks this year, it should make up for lost time. As is widely acknowledged, some States are better at running the PDS than others, and the food security law is the best tool to raise standards uniformly. Food Ministry data presented to Parliament show that the present system does not reflect the true scale of public grievances, with a mere 1,106 complaints received from beneficiaries nationwide in 2016, including those reported in the media. The court's intervention is wholly welcome to make the NFSA meaningful.

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 09-08-17

चीन को चुनौती

पिछले कुछ दशकों में चीन के आर्थिक **उत्थान** ने पूरी दुनिया को जितना चौंकाया है, उतना ही उसके राजनीतिक, राजनयिक और सैनिक इरादों ने कई देशों को सशंकित भी किया है। खासकर पाकिस्तान और उत्तर कोरिया को छोड़ दें, तो चीन के सभी पड़ोसी उसके लगातार आक्रामक रवैये को लेकर खासे परेशान हैं। पाकिस्तान और उत्तर कोरिया अगर इस **फेहरिस्त** में नहीं हैं, तो इसका कारण उनके प्रति चीन की कोई दरियादिली, कोई विशेष दोस्ती या कोई भावनात्मक लगाव नहीं है, **बल्कि** वह अपने राजनय में इन देशों का इस्तेमाल मोहरे के रूप में कर रहा है। भारत के खिलाफ वह सिर्फ पाकिस्तान को शह ही नहीं देता, बल्कि हाफिज सईद जैसे आतंकवादियों को लाभ पहुंचा देता है। कई **क्षेत्रों** में तो यहां तक कहा जाने लगा है कि पाकिस्तान अब चीन का एक प्रदेश भर रह गया है। वह भारत के खिलाफ नेपाल के इस्तेमाल की कोशिश कर चुका है। यही हाल उत्तर कोरिया का है। जब पूरी दुनिया में उसकी सरकार के परमाणु कार्यक्रम का विरोध हो रहा है, तो चीन परोक्ष रूप से उत्तर कोरिया का बचाव करता दिख रहा है। सिर्फ इस कारण से कि वह उत्तर कोरिया का इस्तेमाल दक्षिण **कोरिया** के खिलाफ कर सके। इन सभी मामलों में पैटर्न एक ही है- एक पड़ोसी को सैनिक व राजनयिक ताकत से दबाओ, और दूसरे को उसके खिलाफ खड़ा करने के लिए आर्थिक ताकत से खरीद लो।

चीन की यह नीति दुनिया भर में अरसे से चर्चा का विषय रही है, लेकिन अब पश्चिमी देशों के विशेषज्ञ इस पर खुलकर बोलने लग पड़े हैं। वाशिंगटन में बड़ा थिंक टैंक माने जाने वाले संगठन सेंटर फॉर स्ट्रैटेजिक ऐंड इंटरनेशनल स्टडीज की बोनी एस ग्लेसर ने चीन की नीति और नीयत का जो विश्लेषण किया है, वह उसके हाल ही में उठाए गए कदमों की अच्छी व्याख्या करता है। ग्लेसर का कहना है कि भारत के प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी अपने देश के हितों को लेकर क्षेत्र के अन्य देशों से साथ जो गठजोड़ बना रहे हैं, उसे चीनी राष्ट्रपति अपने लिए सबसे बड़े खतरे की तरह देखते हैं। इसके अलावा, वह अमेरिका, जापान और ऑस्ट्रेलिया जैसे देशों से भारत के गठजोड़ को लेकर खासे चिंतित हैं। अल्पकालिक संदर्भ में जहां भारत के ऐसे गठजोड़ चीन को परेशान कर रहे हैं, तो वहीं दीर्घकालिक स्तर पर वह भारत को ऐसे देश की तरह देखता है, जो तकरीबन सभी मोर्चों पर उसका प्रतिस्पद्र्धी बन सकता है और उसके लिए चुनौती खड़ी कर सकता है। ग्लेसर ने इस ओर भी ध्यान दिलाया कि भारत दुनिया का अकेला देश है, जिसने चीन की 'वन बेल्ट, वन रोड' नीति का खुलकर विरोध किया।

यह अच्छी बात है कि चीन की विस्तारवादी नीतियों को पश्चिम के विशेषज्ञों ने सही परिप्रेक्ष्य में समझना शुरू किया है। हमारे लिए यह महत्वपूर्ण हो सकता है, लेकिन अपने समाधान निकालने के लिए हमें पश्चिमी विशेषज्ञों के विश्लेषण पर निर्भर नहीं रहना होगा। एक तो ये समस्याएं क्षेत्रीय हैं और इनके समाधान भी क्षेत्रीय स्तर पर ही निकलेंगे। दूसरे, पश्चिम के विशेषज्ञ भले ही हमारे क्षेत्रीय मसलों का गहन विश्लेषण प्रस्तुत करते हों, लेकिन वे उसे हमेशा पश्चिमी नजरिये से ही देखते हैं। अच्छी बात यह है कि सरकार इन सभी बातों को अच्छी तरह समझ रही है। एक तरफ वह सीमा पर बढ़ रहे तनाव को लेकर सचेत है, तो दूसरी तरफ उसे यह भी पता है कि इसके लिए क्षेत्रीय, एशियाई और विश्व स्तर पर कैसे राजनयिक प्रयास जरूरी हैं। इससे भी अहम बात यह है कि सरकार युद्ध की व्यर्थता को भी समझ रही है। प्रधानमंत्री भी यह बात कह चुके हैं और विदेश मंत्री इस बारे में राज्यसभा में बयान भी दे चुकी हैं।

Date: 09-08-17

आंदोलन जिसमें हर कोई नेता था

मृदुला मुखर्जी, प्रसिद्ध इतिहासकार

हमारे राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम की सबसे बड़ी लड़ाई थी अगस्त क्रांति और इस आंदोलन की विशेषताएं इसे आजादी की लड़ाई के दूसरे तमाम आंदोलनों से अलग करती हैं। यहां मैं यह स्पष्ट कर दूं कि अन्य आंदोलनों से इसके अलग कहने का मतलब किसी आंदोलन के अच्छे-बुरे की बात नहीं है, बल्कि इसकी अहमियत को बताना मेरा मकसद है। जैसे दांडी यात्रा का अपना एक अलग चरित्र था। असहयोग आंदोलन की अपनी विशेषताएं थीं, इसी तरह 'भारत छोड़ो आंदोलन' की भी थीं। मगर यह आंदोलन इस मायने में सबसे खास था कि इसे देश भर के अवाम का स्वत:स्फूर्त समर्थन मिला। जब 8 अगस्त को कांग्रेस ने अंग्रेजों को यह कहने के लिए प्रस्ताव पारित किया कि आप भारत से जाएं, और गांधी जी ने 'करो या मरो' का आह्वान किया, तो असल में मकसद ठीक उसी समय से वह आंदोलन शुरू करना नहीं था, बल्कि इसके जरिये यह संदेश दिया जा रहा था कि हमें यह काम करना है। उस समय तो गांधी जी ने कहा था कि आंदोलन को विधिवत शुरू करने में दो-तीन हफ्ते लगेंगे, क्योंकि मैं पहले वायसराय से बात करूंगा, जैसा कि मैं हमेशा कोई आंदोलन शुरू करने से पहले करता आया हूं। गांधी जी हमेशा ब्रिटिश हुकूमत को यह बताते थे कि हम यह कार्यक्रम करने जा रहे हैं और उस पर अंग्रेजों की सकारात्मक प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा भी करते थे। 'भारत छोड़ो आंदोलन' के प्रस्ताव पारित करने के वक्त गांधी की यही भावना थी। परंतु 8 अगस्त की रात और 9 तारीख की सुबह स्वतंत्रता संग्राम के राष्ट्रीय नेतृत्व को बड़े पैमाने पर गिरफ्तार कर लिया गया। मुंबई में गांधीजी और उनके सहयोगियों को हिरासत में ले लिया गया, तो राज्य स्तर पर भी कांग्रेस के शीर्ष नेताओं को उठा लिया गया। जाहिर है, यह अचानक उठाया गया कदम नहीं था। ब्रिटिश सरकार ने पहले से ही अपनी रणनीति बना रखी थी।देश के लोग इतने बड़े पैमाने पर अपने नेताओं की गिरफ्तारी से भौंचक रह गए। इस पर उनकी जबर्दस्त प्रतिक्रिया सामने आई और 9 अगस्त को ही देश के कई इलाकों में बड़ी-बड़ी रैलियां हुईं, खासकर शहरों में लोग हजारों की तादाद में सड़कों पर उमड़ आए। पटना, दिल्ली, बंबई (अब मुंबई) में खास तौर से छात्र और नौजवान आंदोलन करने लगे। 9 अगस्त को ही कई जगहों पर गोलियां भी चलीं, जिसमें अनेक लोग मारे गए। यह आंदोलन किसी के आह्वान

पर नहीं शुरू हुआ था, क्योंकि कांग्रेस और गांधी जी ने अभी तो यह तय ही नहीं किया था कि किस दिन से आंदोलन का आह्वान किया जाए। उन्होंने उस वक्त सिर्फ संकल्प लिया था कि हमें आंदोलन करना है। साथ ही यह भी संकल्प लिया था कि अब पीछे नहीं हटना है, यानी 'करो या मरो।'उस समय तक देश की आजादी की आवाज भारत के कोने-कोने तक पहुंच गई थी और स्वतंत्रता संग्राम की पहुंच समाज के सभी तबकों तक बन चुकी थी। लोगों में यह भावना बलवती हो उठी थी कि अंग्रेजों को अब यह देश छोड़ना ही होगा और इसके लिए वे कोई लंबा इंतजार करने के मूड में भी नहीं थे। एक तरह से शीघ्र आजादी की भावना गहरी हो चली थी। इस आंदोलन ने दिखाया कि आजादी की राष्ट्रीय भावना अब किस चरम पर है। आम तौर पर किसी भी आंदोलन की रूपरेखा बनती है। नेतृत्व अपने कैडर तैयार करता है कि एक खास तिथि से सत्याग्रह शुरू होगा और अमुक-अमुक लोग अपनी क्रमवार गिरफ्तारियां देंगे। फिर हम स्कूल-कॉलेजों का बहिष्कार करेंगे या विदेशी वस्त्रों का त्याग करेंगे, लेकिन अगस्त क्रांति में ऐसा कोई कार्यक्रम नहीं बनाया गया था। यकीनन कांग्रेस के आंदोलन की तैयारी चल रही थी, लेकिन उसके नेताओं की अचानक गिरफ्तारी ने इसे तत्काल भड़का दिया। कांग्रेस की तैयारी का अंदाज इस बात से लगता है कि उसे मालूम था कि विश्व युद्ध के दौरान वह अंग्रेजों से मोर्चा लेने जा रही है और इस पर ब्रिटिश हुकूमत की प्रतिक्रिया काफी सख्त होगी। इसीलिए लोगों को क्या निर्देश देने हैं, यह भी सोच लिया गया था। गांधी जी ने अपने भाषण में कहा भी था कि 'इच मैन विल बी ओन लीडर' यानी हर सेनानी अपना नेता खुद होगा। वह अपनी बुद्धि और विवेक से काम करेगा। चूंकि उसे अच्छी तरह से प्रशिक्षित किया जा चुका है कि किस स्थिति में क्या करना चाहिए, इसलिए कोई भी कार्यकर्ता नेतृत्व के निर्देश का इंतजार नहीं करेगा। मैं मानती हूं कि यह इस आंदोलन की खास विशेषता थी।

पहले के आंदोलन में नेतृत्व को काफी वक्त मिल जाता था। अंग्रेज उन्हें तुरंत उठाकर जेल में नहीं डाल देते थे। नमक सत्याग्रह में ही गांधी जी कितने दिनों तक पैदल चले, 6 अप्रैल को दांडी में नमक बनाकर कानून तोड़ने के भी काफी दिनों के बाद उनको हिरासत में लिया गया। इसी तरह जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल को भी काफी समय मिला करता था, जिससे वे आंदोलन की दशा-दिशा तय कर पाते थे। मगर अगस्त क्रांति ने हर एक सेनानी को अपना नेता बना दिया था। इस आंदोलन में लोगों ने ब्रिटिश सत्ता के प्रतीकों जैसे थानों, स्टेशनों पर कब्जा कर लिया था, बड़े पैमाने पर ग्रामीण नौजवानों ने इसे गांव-गांव में पहुंचा दिया। जाहिर है, 1857 के बाद सबसे ज्यादा दमन इसी आंदोलन का हुआ। कांग्रेस का अपना आकलन था कि 10 हजार से ज्यादा भारतीय इसमें शहीद हुए थे। इन शहादतों ने आजादी की निर्णायक पटकथा लिख दी।